।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ षष्ठोऽध्यायः

संसार में धर्म के नाम पर रीति-रिवाज, पूजा-पद्धतियाँ, सम्प्रदायों का बाहुल्य होने पर कुरीतियों का शमन करके एक ईश्वर की स्थापना एवं उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया को प्रशस्त करने के लिए किसी महापुरुष का आविर्भाव होता है। क्रियाओं को छोड़कर बैठ जाने और ज्ञानी कहलाने की रूढ़ि कृष्णकाल में अत्यन्त व्यापक थी। इसलिए इस अध्याय के प्रारम्भ में ही योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न को चौथी बार स्वयं उठाया कि ज्ञानयोग तथा निष्काम कर्मयोग दोनों के अनुसार कर्म करना ही होगा।

अध्याय दो में उन्होंने कहा था, अर्जुन! क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़कर कल्याणकारी कोई रास्ता नहीं है। इस युद्ध में हारोगे तो भी देवत्व है और जीतने पर महामहिम स्थिति ही है - ऐसा समझकर युद्ध कर। अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि युद्ध कर। ज्ञानयोग ऐसा नहीं है कि हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहें। ज्ञानयोग में केवल अपने हानि-लाभ का स्वयं निश्चय करके, अपनी शक्ति समझकर कर्म में प्रवृत्त होना है, जबकि प्रेरक महापुरुष ही है। ज्ञानयोग में युद्ध करना अनिवार्य है।

अध्याय तीन में अर्जुन ने प्रश्न किया कि - भगवन्! निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है, तो मुझे घोर कर्मों में क्यों लगाते हैं? अर्जुन को निष्काम कर्मयोग कठिन प्रतीत हुआ। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि दोनों निष्ठाएँ मेरे द्वारा कही गयी हैं; किन्तु किसी भी पथ के अनुसार कर्म को त्यागकर चलने का विधान नहीं है। न तो ऐसा ही है कि कर्म को न आरम्भ करने से कोई परम नैष्कर्म्य की सिद्धि पा ले और न आरम्भ की हुई

क्रिया को त्याग देने से कोई उस परमसिद्धि को पाता है। दोनों मार्गों में नियत कर्म - यज्ञ की प्रक्रिया को करना ही होगा।

अब अर्जुन ने भली प्रकार समझ लिया कि ज्ञानमार्ग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, दोनों दृष्टियों में कर्म करना ही है; फिर भी पाँचवें अध्याय में उसने प्रश्न किया कि फल की दृष्टि से कौन श्रेष्ठ है? कौन सुविधाजनक है? श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! दोनों ही परमश्रेय को देनेवाले हैं। एक ही स्थान पर दोनों पहुँचाते हैं फिर भी सांख्य की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है; क्योंकि निष्काम कर्म का आचरण किये बिना कोई संन्यासी नहीं हो सकता। दोनों में कर्म एक ही है। अतः स्पष्ट है कि वह निर्धारित कर्म किये बिना कोई संन्यासी नहीं हो सकता और न कोई योगी ही हो सकता है। केवल इस पर चलनेवाले पथिकों की दो दृष्टियाँ हैं, जो पीछे बतायी गयी हैं।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

श्रीकृष्ण महाराज बोले - अर्जुन! कर्मफल के आश्रय से रहित होकर अर्थात् कर्म करते समय किसी प्रकार की कामना न रखते हुए जो **'कार्यम् कर्म'**- करने योग्य प्रक्रिया-विशेष को करता है वही संन्यासी है, वही योगी है। केवल अग्नि को त्यागनेवाला तथा केवल क्रिया को त्यागनेवाला न संन्यासी है, न योगी। क्रियाएँ बहुत-सी हैं। उनमें से **'कार्यम् कर्म'**-करने योग्य क्रिया, **'नियत कर्म'**- निर्धारित की हुई कोई क्रिया-विशेष है। वह है यज्ञ की प्रक्रिया। जिसका शुद्ध अर्थ है आराधना, जो आराध्य देव में प्रवेश दिला देनेवाली विधि-विशेष है। उसको कार्यरूप देना कर्म है। जो उसे करता है वही संन्यासी है, वही योगी होता है। केवल अग्नि को त्यागनेवाला कि 'हम अग्नि नहीं छूते' या कर्म त्यागनेवाला कि 'मेरे लिए कर्म है ही नहीं, मैं तो आत्मज्ञानी हूँ।' - केवल ऐसा कहे और कर्म आरम्भ ही न करे, करने योग्य क्रिया-विशेष न करे तो वह न संन्यासी है, न योगी। इस पर और देखें-

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

अर्जुन! जिसे 'संन्यास' ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग जान; क्योंकि संकल्पों का त्याग किये बिना कोई भी पुरुष योगी नहीं होता अर्थात् कामनाओं का त्याग दोनों ही मार्गियों के लिए आवश्यक है। तब तो सरल है कि कह दें कि हम संकल्प नहीं करते और हो गये योगी-संन्यासी। श्रीकृष्ण कहते हैं, ऐसा कदापि नहीं है-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

योग पर आरूढ़ होने की इच्छावाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में कर्म करना ही कारण है और योग का अनुष्ठान करते-करते जब वह परिणाम देने की अवस्था में आ जाय, उस योगारूढ़ता में **'शमः कारणम् उच्यते'**- सम्पूर्ण संकल्पों का अभाव कारण है। इससे पहले संकल्प पिण्ड नहीं छोड़ते और-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

जिस काल में पुरुष न तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है और न कर्मों में ही आसक्त है (योग की परिपक्वावस्था में पहुँच जाने पर आगे कर्म करके ढूँढ़े किसे? अतः नियत कर्म आराधना की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसीलिए वह कर्मों में भी आसक्त नहीं है), उस काल में **'सर्वसंकल्प संन्यासी'**- सर्वसंकल्पों का अभाव है। वही संन्यास है, वही योगारूढ़ता है। रास्ते में संन्यास नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस योगारूढ़ता से लाभ क्या है?

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

अर्जुन! मनुष्य को चाहिए कि अपने द्वारा अपना उद्धार करे। अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे; क्योंकि यह जीवात्मा स्वयं ही अपना मित्र है और यही अपना शत्रु भी है। कब यह शत्रु होता है और कब मित्र? इस पर कहते हैं-

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उसके लिए उसी का जीवात्मा मित्र है और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिए वह स्वयं शत्रुता में बरतता है।

इन दो श्लोकों में श्रीकृष्ण एक ही बात कहते हैं कि अपने द्वारा अपने आत्मा का उद्धार करें, उसे अधोगति में न पहुँचावें; क्योंकि आत्मा ही मित्र है। सृष्टि में न दूसरा कोई शत्रु है, न मित्र। किस प्रकार? जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती हुई हैं, उसके लिये उसी का आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतता है, परमकल्याण करनेवाला होता है और जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गई हैं, उसके लिये उसी का आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतता है, अनन्त योनियों और यातनाओं की ओर ले जाता है। प्रायः लोग कहते हैं - 'मैं तो आत्मा हूँ'। गीता में लिखा है, ''न इसे शस्त्र काट सकता है, न अग्नि जला सकती है, न वायु सुखा सकता है। यह नित्य है, अमृतस्वरूप है, न बदलनेवाला है, शाश्वत है और वह आत्मा मुझमें है ही।'' वे गीता की इन पंक्तियों पर ध्यान नहीं देते कि आत्मा अधोगति में भी जाता है। आत्मा का उद्धार भी होता है, जिसके लिये **'कार्यम् कर्म'**- करने योग्य प्रक्रिया-विशेष करके ही उपलब्धि बतायी गई है। अब अनुकूल आत्मा के लक्षण देखें-

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भली प्रकार शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुष में परमात्मा सदैव स्थित है, कभी विलग नहीं होता। 'जितात्मा' अर्थात् जिसने मनसहित इन्द्रियों को जीत लिया है, वृत्ति परमशान्ति में प्रवाहित हो गई है। (यही आत्मा के उद्धार की अवस्था है) आगे कहते हैं-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति अचल, स्थिर और विकाररहित है, जिसने इन्द्रियों को विशेष रूप से जीत लिया है,

जिसकी दृष्टि में मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण एक समान है - ऐसा योगी 'युक्त' कहा जाता है। 'युक्त' का अर्थ है योग से संयुक्त। यह योग की पराकाष्ठा है, जिसे योगेश्वर पाँचवें अध्याय में श्लोक सात से बारह तक चित्रित कर आये हैं। परमतत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार और उसके साथ होनेवाली जानकारी ज्ञान है। एक इञ्च भी इष्ट से दूरी है, जानने की इच्छा बनी है, तब तक वह अज्ञानी है। वह प्रेरक कैसे सर्वव्याप्त है? कैसे प्रेरणा देता है? कैसे अनेक आत्माओं का एक साथ पथ-प्रदर्शन करता है? कैसे वह भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञाता है? उस प्रेरक इष्ट की इस कार्य-प्रणाली का ज्ञान ही 'विज्ञान' है। जिस दिन से हृदय में इष्ट का आविर्भाव होता है, उसी दिन से वह निर्देश देने लगता है; किन्तु प्रारम्भ में साधक समझ नहीं पाता। पराकाष्ठाकाल में ही योगी उनकी आन्तरिक कार्य-प्रणाली को पूर्णतः समझ पाता है। यही समझ विज्ञान है। योगारूढ़ अथवा युक्तपुरुष का अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त रहता है। इसी प्रकार योगयुक्त पुरुष की स्थिति का निरूपण करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं-

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष समदर्शी और समवर्ती होता है। जैसे पिछले श्लोक में उन्होंने बताया कि जो पूर्ण ज्ञाता या पण्डित है, वह विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण में, चाण्डाल में, गाय-कुत्ता-हाथी में समान दृष्टिवाला होता है - उसी का पूरक यह श्लोक है। वह हृदय से सहायता करनेवाले सहृदय, मित्र, बैरी, उदासीन, द्वेषी, बन्धुगणों, धर्मात्मा तथा पापियों में भी समान दृष्टिवाला योगयुक्त पुरुष अतिश्रेष्ठ है। वह उनके कार्यों पर दृष्टि नहीं डालता बल्कि उनके भीतर आत्मा के संचार पर ही उसकी दृष्टि पड़ती है। इन सबमें वह केवल इतना ही अन्तर देखता है कि कोई कुछ नीचे की सीढ़ी पर खड़ा है, तो कोई निर्मलता के समीप; किन्तु वह क्षमता सबमें है। यहाँ योगयुक्त के लक्षण पुनः दुहराये गये।

कोई योगयुक्त कैसे बनता है? वह कैसे यज्ञ करता है? यज्ञस्थली कैसी हो? आसन कैसा हो? उस समय कैसे बैठा जाय? कर्त्ता के द्वारा

पालन किये जानेवाले नियम, आहार-विहार, सोने-जागने का संयम तथा कर्म पर कैसी चेष्टा हो? - इत्यादि बिन्दुओं पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अगले पाँच श्लोकों में प्रकाश डाला है, जिससे आप भी उस यज्ञ को सम्पन्न कर सकें।

अध्याय तीन में उन्होंने यज्ञ का नाम लिया और बताया कि यज्ञ की प्रक्रिया ही वह नियत कर्म है। अध्याय चार में उन्होंने यज्ञ का स्वरूप विस्तार से बताया, जिसमें प्राण को अपान में हवन, अपान को प्राण में हवन, प्राण-अपान की गति रोककर मन का निरोध इत्यादि किया जाता है। सब मिलाकर यज्ञ का शुद्ध अर्थ है आराधना तथा उस आराध्य देव तक की दूरी तय करानेवाली प्रक्रिया, जिस पर पाँचवें अध्याय में भी कहा। किन्तु उसके लिए आसन, भूमि, करने की विधि इत्यादि का चित्रण शेष था, उसी पर योगेश्वर श्रीकृष्ण यहाँ प्रकाश डालते हैं-

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

चित्त को जीतने में लगा हुआ योगी मन, इन्द्रियों और शरीर को वश में रखकर, वासना और संग्रहरहित होकर, एकान्त स्थान में अकेले ही चित्त को (आत्मोपलब्धि करानेवाली) योग-क्रिया में लगावे। उसके लिए स्थान कैसा हो? आसन कैसा रहे?-

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

शुद्ध भूमि में कुश, मृगछाल, वस्त्र अथवा इससे उत्तरोत्तर (रेशमी, ऊनी, तख्त कुछ भी) बिछाकर अपने आसन को न अति ऊँचा, न नीचा, स्थिर स्थापित करें। शुद्ध भूमि का तात्पर्य उसे झाड़ने-बुहारने, सफाई करने से है। जमीन पर कुछ बिछा लेना चाहिए - चाहे मृगछाल हो या चटाई अथवा कोई भी वस्त्र, तख्त जो भी उपलब्ध हो, कोई एक वस्तु बिछा लेना चाहिए। आसन हिलने-डुलनेवाला न हो। न जमीन से बहुत ऊँचा हो और न एकदम नीचा। 'पूज्य महाराज जी' लगभग पाँच इंच ऊँचे आसन पर बैठते थे। एक बार भाविकों ने लगभग एक फीट ऊँचा संगमरमर का एक तख्त

मँगा दिया। महाराज जी एक दिन तो बैठे फिर बोले – ''नहीं हो! बहुत ऊँचा हो गया। ऊँचे नहीं बैठे के चाही साधू को, अभिमान होइ जावा करत है। नीचेहू न बैठे के चाही, हीनता आवत है, अपने से घृणा आवत है।'' बस, उसको उठवाया और जंगल में एक बगीचा था, वहाँ रखवा दिया। वहाँ न कभी महाराज जाते थे और न अब ही कोई जाता है। यह था उन महापुरुष का क्रियात्मक शिक्षण। इसी प्रकार साधक के लिए भी बहुत ऊँचा आसन नहीं होना चाहिए, नहीं तो भजनपूर्ति बाद में होगी, अहंकार पहले चढ़ बैठेगा। इसके पश्चात्–

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

उस आसन पर बैठकर (बैठकर ही ध्यान करने का विधान है), मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करें। अब बैठने का तरीका बताते हैं–

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

शरीर, गर्दन और सिर को सीधा, अचल-स्थिर करके (जैसे कोई पटरी खड़ी कर दी गई हो) इस प्रकार सीधा, दृढ़ होकर बैठ जाय और अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर (नासिका की नोंक देखते रहने का निर्देश नहीं है बल्कि सीधे बैठने पर नाक के सामने जहाँ दृष्टि पड़ती है, वहाँ दृष्टि रहे। दाहिने-बायें देखते रहने की चंचलता न रहे) अन्य दिशाओं को न देखता हुआ स्थिर होकर बैठे और–

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर (प्रायः लोग कहते हैं कि जननेन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है; किन्तु महापुरुषों की अनुभूति है कि मन से विषयों का स्मरण करके, आँखों से वैसे दृश्य देखकर, त्वचा से स्पर्श कर, कानों से विषयोत्तेजक शब्द सुनकर जननेन्द्रिय संयम सम्भव नहीं है। ब्रह्मचारी का

वास्तविक अर्थ है, **'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी'**- ब्रह्म का आचरण है नियत कर्म, यज्ञ की प्रक्रिया, जिसे करनेवाले **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'**- सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाते हैं। इसे करते समय **'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्'**- बाहर के स्पर्श, मन और सभी इन्द्रियों के स्पर्श बाहर ही त्यागकर चित्त को ब्रह्म-चिन्तन में, श्वास-प्रश्वास में, ध्यान में लगाना है। मन ब्रह्म में लगा है, तो बाह्य स्मरण कौन करे। यदि बाह्य स्मरण होता है, तो अभी मन लगा कहाँ? विकार शरीर में नहीं, मन की तरंगों में रहते हैं। मन ब्रह्माचरण में लगा है, तो जननेन्द्रिय संयम ही नहीं, सकलेन्द्रिय संयम तक स्वाभाविक हो जाता है। अतः ब्रह्म के आचरण में स्थित रहकर) भयरहित और अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरणवाला, मन को संयत रखते हुए, मुझमें लगे हुए चित्त से युक्त मेरे परायण होकर स्थित हो। ऐसा करने का परिणाम क्या होगा?-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

इस प्रकार अपने आपको निरन्तर उसी चिन्तन में लगाता हुआ, संयत मनवाला योगी मेरे में स्थितिरूपी पराकाष्ठावाली शान्ति को प्राप्त होता है। इसलिए अपने को निरन्तर कर्म में लगाएँ। यहाँ यह प्रश्न पूर्णप्राय है। अगले दो श्लोकों में वे बताते हैं कि परमानन्दवाली शान्ति के लिए शारीरिक संयम, युक्ताहार, विहार भी आवश्यक हैं-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवाले का सिद्ध होता है, न अत्यन्त सोनेवाले का और न अत्यन्त जागनेवाले का ही सिद्ध होता है। तब किसका सिद्ध होता है?-

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

दुःखों का नाश करनेवाला यह योग उचित आहार-विहार, कर्मों में उपयुक्त चेष्टा और संतुलित शयन-जागरण करनेवाले का ही पूर्ण होता है। अधिक भोजन करने से आलस्य, निद्रा और प्रमाद घेरेंगे, तब साधना नहीं

होगी। भोजन छोड़ देने से इन्द्रियाँ क्षीण हो जायेंगी, अचल-स्थिर बैठने की क्षमता नहीं रहेगी। 'पूज्य महाराज जी' कहते थे कि खुराक से डेढ़-दो रोटी कम खाना चाहिए। विहार अर्थात् साधन के अनुकूल विचरण, कुछ परिश्रम भी करते रहना चाहिए, कोई कार्य ढूँढ़ लेना चाहिए अन्यथा रक्त-संचार शिथिल पड़ जाएगा, रोग घेर लेंगे। आयु सोना और जागना, आहार और अभ्यास से घटता-बढ़ता है। 'महाराज जी' कहा करते थे - "योगी को चार घण्टे सोना चाहिए और अनवरत चिन्तन में लगे रहना चाहिए। हठ करके न सोनेवाले शीघ्र पागल हो जाते हैं।" कर्मों में उपयुक्त चेष्टा भी हो अर्थात् नियत कर्म आराधना के अनुरूप निरन्तर प्रयत्नशील हो। बाह्य विषयों का स्मरण न कर सदैव उसी में लगे रहनेवाले का ही योग सिद्ध होता है, साथ ही-

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

इस प्रकार योग के अभ्यास से विशेषरूप से वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में भली प्रकार स्थित हो जाता है, विलीन-सा हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण कामनाओं से रहित हुआ पुरुष योगयुक्त कहा जाता है। अब विशेष जीते हुए चित्त के लक्षण क्या हैं?-

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखा गया दीपक चलायमान नहीं होता, लौ सीधे ऊपर जाती है, उसमें कम्पन नहीं होता, यही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की दी गई है। दीपक तो उदाहरण मात्र है। आजकल दीपक का प्रचलन शिथिल पड़ रहा है। अगरबत्ती ही जलाने पर धुआँ सीधे ऊपर जाता है, यदि वायु में वेग न हो। यह योगी के जीते हुए चित्त का एक उदाहरण मात्र है। अभी चित्त भले ही जीता गया है, निरोध हो गया है; किन्तु अभी चित्त है। जब निरुद्ध चित्त का भी विलय हो जाता है, तब कौन-सी विभूति मिलती है? देखें-

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त भी उपराम हो जाता है, विलय हो जाता है, मिट जाता है, उस अवस्था में **'आत्मना'**- अपने आत्मा के द्वारा **'आत्मानम्'**- परमात्मा को देखता हुआ **'आत्मनि एव'**- अपने आत्मा में ही संतुष्ट होता है। देखता तो परमात्मा को है लेकिन संतुष्ट अपने ही आत्मा से होता है; क्योंकि प्राप्तिकाल में तो परमात्मा का साक्षात्कार होता है किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपने ही आत्मा को उन शाश्वत ईश्वरीय विभूतियों से ओत-प्रोत पाता है। ब्रह्म अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और अमृतस्वरूप है तो इधर आत्मा भी अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और अमृत स्वरूप है। है तो किन्तु अचिन्त्य भी है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है, तब तक वह आपके उपभोग के लिए नहीं है। चित्त का निरोध और निरुद्ध चित्त के विलयकाल में परमात्मा का साक्षात्कार होता है और दर्शन के ठीक दूसरे क्षण उन्हीं ईश्वरीय गुणधर्मों से युक्त अपने ही आत्मा को पाता है, इसलिए वह अपने ही आत्मा में सन्तुष्ट होता है। यही उसका स्वरूप है। यही पराकाष्ठा है। इसी का पूरक अगला श्लोक देखें-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

तथा इन्द्रियों से अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी भगवत्स्वरूप को तत्त्व से जानकर चलायमान नहीं होता, सदैव उसी में प्रतिष्ठित रहता है तथा-

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

परमेश्वर की प्राप्तिरूपी जिस लाभ को, पराकाष्ठा की शान्ति को प्राप्त कर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और भगवत्प्राप्तिरूपी जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता, दुःख का उसे भान भी नहीं होता; क्योंकि भान करनेवाला चित्त तो मिट

गया, इस प्रकार-

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

जो संसार के संयोग और वियोग से रहित है, उसी का नाम योग है। जो आत्यन्तिक सुख है, उसके मिलन का नाम योग है। जिसे परमतत्त्व परमात्मा कहते हैं, उसके मिलन का नाम योग है। वह योग न उकताये हुए चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्त्तव्य है। धैर्यपूर्वक लगा रहनेवाला ही योग में सफल होता है।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

इसलिये मनुष्य को चाहिए कि संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं को वासना और आसक्ति सहित सर्वथा त्यागकर, मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सब ओर से अच्छी प्रकार वश में करके-

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त हो जाय। चित्त का निरोध और क्रमशः विलय हो जाय। तदनन्तर वह धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके अन्य कुछ भी चिन्तन न करे। निरन्तर लगकर पाने का विधान है। किन्तु आरम्भ में मन लगता नहीं, इसी पर योगेश्वर कहते हैं-

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

यह स्थिर न रहनेवाला चंचल मन जिस-जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है, उस-उस से रोककर बारम्बार अन्तरात्मा में ही निरोध करे। प्रायः लोग कहते हैं कि मन जहाँ भी जाता है जाने दो, प्रकृति में ही तो जायेगा और प्रकृति भी उस ब्रह्म के ही अन्तर्गत है, प्रकृति में विचरण करना ब्रह्म के बाहर नहीं है; किन्तु श्रीकृष्ण के अनुसार यह गलत है। गीता में इन मान्यताओं का किंचित् भी स्थान नहीं है। श्रीकृष्ण का कथन है कि मन

जहाँ-जहाँ जाय, जिन माध्यमों से जाय, उन्हीं माध्यमों से रोककर परमात्मा में ही लगावें। मन का निरोध सम्भव है। इस निरोध का परिणाम क्या होगा?-

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

जिसका मन पूर्णरूपेण शान्त है, जो पाप से रहित है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे ब्रह्म से एकीभूत योगी को सर्वोत्तम आनन्द प्राप्त होता है, जिससे उत्तम कुछ भी नहीं है। इसी पर पुनः बल देते हैं-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

पापरहित योगी इस प्रकार आत्मा को निरन्तर उस परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के अनन्त आनन्द की अनुभूति करता है। वह 'ब्रह्मसंस्पर्श' अर्थात् ब्रह्म के स्पर्श और प्रवेश के साथ अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। अतः भजन अनिवार्य है। इसी पर आगे कहते हैं-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

योग के परिणाम से युक्त आत्मावाला, सबमें समभाव से देखनेवाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में व्याप्त देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही प्रवाहित देखता है। इस प्रकार देखने से लाभ क्या है?-

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में मुझ परमात्मा को देखता है, व्याप्त देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ परमात्मा के ही अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। यह प्रेरक का आमने-सामने मिलन है, सख्यभाव है, सामीप्य मुक्ति है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

जो पुरुष अनेकता से परे उपर्युक्त एकत्व भाव से मुझ परमात्मा को भजता है, वह योगी सब प्रकार के कार्यों में बरतता हुआ भी मेरे में ही बरतता है; क्योंकि मुझे छोड़कर उसके लिये कोई बचा भी तो नहीं। उसका तो सब मिट गया, इसलिये वह अब उठता, बैठता जो कुछ भी करता है, मेरे संकल्प से करता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

हे अर्जुन! जो योगी अपने ही समान सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है, अपने-जैसा देखता है, सुख और दुःख भी सबमें समान देखता है, वह योगी (जिसका भेदभाव समाप्त हो गया है) परमश्रेष्ठ माना गया है। प्रश्न पूरा हुआ। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

हे मधुसूदन! यह योग जो आप पहले बता आये हैं, जिससे समत्व भावदृष्टि मिलती है, मन के चञ्चल होने से बहुत समय तक इसमें ठहरनेवाली स्थिति में मैं अपने को नहीं देखता।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल है, प्रमथन स्वभाववाला है, (प्रमथन अर्थात् दूसरे को मथ डालनेवाला) हठी, तथा बलवान् है, इसलिये इसे वश में करना मैं वायु की भाँति अति दुष्कर मानता हूँ। तूफानी हवा और इसको रोकना बराबर है। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

महान कार्य करने के लिये प्रयत्नशील अर्थात् महाबाहु अर्जुन! निःसन्देह मन चंचल है, बड़ी कठिनाई से वश में होनेवाला है; परन्तु कौन्तेय! यह

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में होता है। जहाँ चित्त को लगाना है, वहाँ स्थिर करने के लिये बार-बार प्रयत्न का नाम अभ्यास है तथा देखी-सुनी विषय-वस्तुओं में (संसार या स्वर्गादि भोगों में) राग अर्थात् लगाव का त्याग वैराग्य है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन वश में करना कठिन है, किन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा यह वश में हो जाता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

अर्जुन! मन को वश में न करनेवाले पुरुष के लिये योग प्राप्त होना कठिन है; किन्तु स्ववश मनवाले प्रयत्नशील पुरुष के लिए योग सहज है, ऐसा मेरा अपना मत है। जितना कठिन तू मान बैठा है, उतना कठिन नहीं है। अतः इसे कठिन मानकर छोड़ मत दो। प्रयत्नपूर्वक लगकर योग को प्राप्त कर; क्योंकि मन वश में करने पर ही योग सम्भव है। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

योग करते-करते यदि किसी का मन चलायमान हो जाय, यद्यपि अभी योग में उसकी श्रद्धा है ही, तो ऐसा पुरुष भगवत्सिद्धि को प्राप्त न होकर किस गति को पाता है?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

महाबाहु श्रीकृष्ण! भगवत्प्राप्ति के मार्ग से विचलित हुआ वह मोहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं होता? छोटी-सी बदली आकाश में छाये, तो वह न बरस पाती है न लौटकर मेघों से ही मिल पाती है; बल्कि हवा के झोंकों से देखते-देखते नष्टप्राय हो जाती है। इसी प्रकार शिथिल प्रयत्नवाला, कुछ काल तक साधन करके स्थगित करनेवाला नष्ट तो नहीं हो जाता? वह न आपमें प्रवेश कर सका और न भोग ही भोग पाया। उसकी कौन-सी गति होती है?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

हे श्रीकृष्ण! मेरे इस संशय को सम्पूर्णता से मिटाने के लिए आप ही सक्षम हैं। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई इस संशय को मिटानेवाला मिलना सम्भव नहीं है। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा–

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

पार्थिव शरीर को ही रथ बनाकर लक्ष्य की ओर अग्रसर अर्जुन! उस पुरुष का न तो इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है; क्योंकि हे तात! उस परमकल्याणकारी नियतकर्म को करनेवाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। उसका होता क्या है?–

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

मन चलायमान होने से योगभ्रष्ट हुआ वह पुरुष पुण्यवानों के लोकों में वासनाओं को भोगकर (जिन वासनाओं को लेकर वह योगभ्रष्ट हुआ था, भगवान उसे थोड़े में सब दिखा-सुना देते हैं, उन्हें भोगकर) वह **'शुचीनां श्रीमताम्'**– शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है। (जो शुद्ध आचरणवाले हैं, वही श्रीमान् हैं।)

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अथवा वहाँ जन्म न मिलने पर भी स्थिरबुद्धि योगियों के कुल में वह प्रवेश पा जाता है। श्रीमानों के घर में पवित्र संस्कार बचपन से ही मिलने लगते हैं; किन्तु वहाँ जन्म न हो पाने पर वह योगियों के कुल में (घर में नहीं), शिष्य-परम्परा में प्रवेश पा जाता है। कबीर, तुलसी, रैदास, बाल्मीकि इत्यादि को शुद्ध आचरण और श्रीमानों का घर नहीं, योगियों के कुल में प्रवेश मिला। सद्गुरु के कुल में संस्कारों का परिवर्तन भी एक जन्म है और ऐसा जन्म संसार में निःसन्देह अतिदुर्लभ है। योगियों के यहाँ जन्म का अर्थ

उनके शरीर से पुत्ररूप में उत्पन्न होना नहीं है। गृहत्याग से पूर्व पैदा होनेवाले लड़के मोहवश महापुरुष को भी भले ही पिता मानते रहे; किन्तु महापुरुष के लिए घर वालों के नाम पर कोई नहीं होता। जो शिष्य उनकी मर्यादाओं का अनुष्ठान करते हैं, उनका महत्त्व लड़कों से कई गुना अधिक मानते हैं। वही उनके सच्चे पुत्र हैं।

जो योग के संस्कारों से युक्त नहीं हैं, उन्हें महापुरुष नहीं अपनाते। 'पूज्य महाराज जी' यदि साधु बनाते, तो हजारों विरक्त उनके शिष्य होते। किन्तु उन्होंने किसी को किराया-भाड़ा देकर, किसी के घर सूचना भेजकर, पत्र भेजकर, समझा-बुझाकर सबको उनके घर लौटा दिया। बहुत लोग हठ करने लगे, तो उन्हें अपशकुन हो। भीतर से मना हो कि इसमें साधु बनने के एक भी लक्षण नहीं है। इसे रखने में भलाई नहीं है, यह पार नहीं होगा। निराश होकर दो-एक ने पहाड़ से गिरकर अपनी जान भी दे दी; किन्तु महाराज जी ने उन्हें अपने यहाँ नहीं रखा। बाद में पता चलने पर बोले - ''जानत रहेउँ कि बड़ा विकल है लेकिन ई सोचते कि सचहूँ के मरि जाई तो रखी लेते। एक ठो पतितै रहत, अउर का होत।'' ममत्व उनमें भी विकट था, फिर भी नहीं रखा। छः-सात को, जिनके लिये आदेश हुआ था कि - ''आज एक योगभ्रष्ट आ रहा है, जन्म-जन्म से भटका हुआ चला आ रहा है, इस नाम और इस रूप का कोई आनेवाला है, उसे रखो, ब्रह्मविद्या का उपदेश करो, उसे आगे बढ़ाओ।'' केवल उन्हीं को रखा। आज भी उनमें से एक महापुरुष धारकुण्डी में बैठे हैं, एक अनुसुइया में हैं, दो-तीन अन्यत्र भी हैं। उन्हें सद्गुरु के कुल में प्रवेश मिला। ऐसे महापुरुषों को पा जाना अतिदुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

वहाँ वह पुरुष शरीर में साधन किये हुए बुद्धि के संयोग को अर्थात् पूर्वजन्म के साधन-संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभाव से वह फिर **'संसिद्धौ'**- भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धि के निमित्त प्रयत्न करने लगता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

श्रीमानों के घर विषयों के वश में रहने पर भी वह पूर्वजन्म के अभ्यास से भगवत्पथ की ओर आकर्षित हो जाता है और योग में शिथिल प्रयत्नवाला वह जिज्ञासु भी वाणी के विषय को पार करके निर्वाण पद को पा जाता है। उसकी प्राप्ति का यही तरीका है। कोई एक जन्म में पाता भी नहीं।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

अनेक जन्मों से प्रयत्न करनेवाला योगी परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी सभी पापों से अच्छी प्रकार शुद्ध होकर परमगति को प्राप्त हो जाता है। प्राप्ति का यही क्रम है। पहले शिथिल प्रयत्न से वह योग आरम्भ करता है, मन चलायमान होने पर जन्म लेता है, सद्‌गुरु के कुल में प्रवेश पाता है और प्रत्येक जन्म में अभ्यास करते हुए वहीं पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति परमधाम है। श्रीकृष्ण ने कहा था कि इस योग में बीज का नाश नहीं होता। आप दो कदम चल भर दें, उस साधन का कभी नाश नहीं होता। हर परिस्थिति में रहते हुए पुरुष ऐसा कर सकता है। कारण कि थोड़ा साधन तो परिस्थितियों से घिरनेवाला व्यक्ति ही कर पाता है; क्योंकि उसके पास समय नहीं है। आप काले हों,गोरे हों अथवा कहीं के हों, गीता सबके लिए है। आपके के लिए भी है, बशर्ते आप मनुष्य हों। उत्कट प्रयत्नवाला चाहे जो हो, किन्तु शिथिल प्रयत्नवाला गृहस्थ ही होता है। गीता गृहस्थ-विरक्त, शिक्षित-अशिक्षित, सर्वसाधारण मनुष्य मात्र के लिए है। किसी 'साधु' नामक विचित्र प्राणी के लिए ही नहीं। अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है। कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिए अर्जुन! तू योगी बन।

तपस्वी– तपस्वी मनसहित इन्द्रियों को उस योग में ढालने के लिए तपाता है, अभी योग उसमें ढला नहीं।

कर्मी– कर्मी इस नियत कर्म को जानकर उसमें प्रवृत्त होता है। न तो वह अपनी शक्ति समझकर ही प्रवृत्त है और न वह समर्पण करके ही प्रवृत्त है। करता भर है।

ज्ञानी– ज्ञानमार्गी उसी नियत कर्म यज्ञ की प्रक्रिया-विशेष को भली प्रकार समझते हुए अपनी शक्ति को सामने रखकर उसमें प्रवृत्त होता है। उसके लाभ-हानि की जिम्मेदारी उसी की है। उस पर दृष्टि रखकर चलता है।

योगी– निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर पूरे समर्पण के साथ उसी नियत कर्म 'योग-साधना' में प्रवृत्त होता है, जिसके योगक्षेम की जिम्मेदारी भगवान तथा योगेश्वर वहन करते हैं। पतन की परिस्थितियाँ होते हुए भी उसके लिए पतन का भय नहीं है; क्योंकि जिस परमतत्त्व को चाहता है, वही उसे सँभालने की जिम्मेदारी भी ले लेता है।

तपस्वी अभी योग को ढालने में प्रयत्नशील है। कर्मी केवल कर्म जानकर करता भर है। ये गिर भी सकते हैं; क्योंकि न इन दोनों में समर्पण है और न अपनी हानि-लाभ देखने की क्षमता; किन्तु ज्ञानी योग की परिस्थितियों को जानता है, अपनी शक्ति समझता है, उसकी जिम्मेदारी उसी पर है और निष्काम कर्मयोगी तो इष्ट के ऊपर अपने को फेंक चुका है, वह इष्ट सँभालेगा। परमकल्याण के पथ पर ये दोनों ठीक चलते हैं; किन्तु जिसका भार वह इष्ट सँभालता है, वह इन सबमें श्रेष्ठ है; क्योंकि प्रभु ने उसे ग्रहण कर लिया है। उसका हानि-लाभ वह प्रभु देखता है। इसलिए योगी श्रेष्ठ है। इसलिए अर्जुन! तू योगी बन। समर्पण के साथ योग का आचरण कर।

योगी श्रेष्ठ है; किन्तु उनसे भी वह योगी सर्वश्रेष्ठ है, जो अन्तरात्मा से लगता है। इसी पर कहते हैं–

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

सम्पूर्ण निष्काम कर्मयोगियों में भी जो श्रद्धाविभोर होकर अन्तरात्मा से, अन्तर्चिन्तन से मुझे निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है।

भजन दिखावे या प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। इससे समाज भले ही अनुकूल हो; किन्तु प्रभु प्रतिकूल हो जाते हैं। भजन अत्यन्त गोपनीय है और वह अन्तःकरण से होता है। उसका उतार-चढ़ाव अन्तःकरण के ऊपर है।

निष्कर्ष–

इस अध्याय के आरम्भ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि फल के आश्रय से रहित होकर जो 'कार्यम् कर्म' अर्थात् करने योग्य प्रक्रिया-विशेष का आचरण करता है, वही संन्यासी है और उसी कर्म को करनेवाला ही योगी है। केवल क्रियाओं अथवा अग्नि को त्यागनेवाला योगी अथवा संन्यासी नहीं होता। संकल्पों का त्याग किये बिना कोई भी पुरुष संन्यासी अथवा योगी नहीं होता। हम संकल्प नहीं करते - ऐसा कह देने मात्र से संकल्प पिण्ड नहीं छोड़ते। योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले पुरुष को चाहिए कि 'कार्यम् कर्म' करे। कर्म करते-करते योगारूढ़ हो जाने पर ही सर्वसंकल्पों का अभाव होता है, इससे पूर्व नहीं। सर्वसंकल्पों का अभाव ही संन्यास है।

योगेश्वर ने पुनः बताया कि आत्मा अधोगति में जाता है और उसका उद्धार भी होता है। जिस पुरुष द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीत ली गई हैं, उसका आत्मा उसके लिए मित्र बनकर मित्रता में बरतता है तथा परमकल्याण करनेवाला होता है। जिसके द्वारा ये नहीं जीती गईं, उसके लिए उसी का आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतता है, यातनाओं का कारण बनता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करे।

उन्होंने प्राप्तिवाले योगी की रहनी बतायी। 'यज्ञस्थली', बैठने का आसन तथा बैठने के तरीके पर उन्होंने कहा कि स्थान एकान्त और स्वच्छ हो। वस्त्र, मृगचर्म अथवा कुश की चटाई में से कोई एक आसन हो। कर्म के अनुरूप चेष्टा, युक्ताहार-विहार, सोने-जागने के संयम पर उन्होंने बल दिया। योगी के निरुद्ध चित्त की उपमा उन्होंने वायुरहित स्थान में दीपक की अकम्पित लौ से दी। और इस प्रकार उस निरुद्ध चित्त का भी जब विलय हो जाता है, उस समय वह योग की पराकाष्ठा अनन्त आनन्द को प्राप्त होता है। संसार के संयोग-वियोग से रहित अनन्त सुख का नाम मोक्ष है। योग का

अर्थ है उससे मिलन। जो योगी इसमें प्रवेश पा जाता है, वह सम्पूर्ण भूतों में समदृष्टिवाला हो जाता है। जैसे अपनी आत्मा वैसे ही सबकी आत्मा को देखता है। वह परम पराकाष्ठा की शान्ति को प्राप्त होता है। अतः योग आवश्यक है। मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँ से घसीटकर बारम्बार इसका निरोध करना चाहिए। श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया कि मन बड़ी कठिनाई से वश में होनेवाला है, लेकिन होता है। यह अभ्यास और वैराग्य द्वारा वश में हो जाता है। शिथिल प्रयत्नवाला व्यक्ति भी अनेक जन्म के अभ्यास से वहीं पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति अथवा परमधाम है। तपस्वियों, ज्ञानमार्गियों तथा केवल कर्मियों से योगी श्रेष्ठ है इसलिए अर्जुन! तू योगी बन। समर्पण के साथ अन्तर्मन से योग का आचरण कर। प्रस्तुत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने प्रमुख रूप से योग की प्राप्ति के लिए अभ्यास पर बल दिया है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'अभ्यास योग' नामक छठाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।